विवाद दिग्विजय।

हरिदास खंडेलवाल।

विवाद दिग्विजय

"हरि अगोचर प्रकाश" "धर्म निर्णय"
तथा "धर्म समीक्षा" के रचयिता

बाबू हरिदास खंडेलवाल द्वारा
रचित तथा प्रकाशित ॥

प्रथम संस्करण
५००० प्रतियां

मूल्य =)

भूमिका

अज्ञान और अविद्या के कारण भ्रमजाल में पड़े हुए लोग अनेक असत्य बातों को सत्य मान कर उनमें अपना समय और शक्ति व्यर्थ बर्बाद कर रहे हैं।

जिस प्रकार कि दृष्टि में कोई विकार हो जाने से मनुष्य को एक दीपक के कई दीपक दिखाई पड़ने लगते हैं परन्तु यथार्थ में दीपक एक ही होता है उसी प्रकार बुद्धि में कोई विकार होने से मनुष्य असली एक के स्थान में अनेक का अनुभव करता है। यह सब असत्य है जिसको कि सत्य मानना महा भूल है। इसी भूल और भ्रम के निवारणार्थ इस

लेख के लिखने की चेष्टा की गई है और सरल तथा संक्षेप से इसको स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। आशा है कि सर्व साधारण इसे विचार पूर्वक पढ़ कर लेखक का उद्योग सफल बनायेंगे। इति शम्।

विद्वज्जनकिंकर

हरिदास।

—:o:—

मतभेद निराकरण।

ईश्वर, जीव, और प्रकृति की एकता का ज्ञान।

शास्त्रीय विषय वे ही सत्य माने जाते हैं जिनके बोध से सन्देह अथवा शंकायें न रह जावें। ईश्वर, जीव, प्रकृति, इन

तीन शब्दों के विषय में सब भाषाओं और मतों के विद्वानों में सदा से विवाद रहता है। किसी के मत में तीनों को सृष्टि का कारण और अनादि माना है और किसी ने ईश्वर, जीव, दो ही को, किसी ने केवल प्रकृति ही को सिद्ध किया है और कई विज्ञानवेत्ता सृष्टि को असत ही कह उठे हैं। वेद, वेदान्त, गीता, इत्यादि के

सिद्धान्त हैं कि सृष्टि का कारण जो अनादि व नित्य है वह केवल पुरुष है ईश्वर, जीव अथवा प्रकृति के भिन्न २ शब्द उसी में आरोपित किये गये हैं। और सृष्टि असत भी नहीं है अर्थात् सत्य व नित्य है। उस पुरुष का सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप गति अथवा बोध अथवा ज्ञान है और बड़े से बड़ा रूप सारा विश्व है। "अणोरणीयान् महतो महीयान्"।

श्रौर विश्व के समस्त पदार्थों में
जो कारण कार्य्य का धर्म व्याप्त
है वही उस पुरुष की प्रकृति मानी
गई है। यथा बीज का गुण है कि
उसमें वृक्ष समाया रहता है श्रौर
उसी में श्राप भी स्थित है इसी प्रकार
पुरुष श्रौर प्रकृति भी जुदे नहीं।
यथा जल व तरंग, सूर्य्य व धूप
दो नहीं हैं एक ही हैं वैसे ही पुरुष
श्रौर प्रकृति एक हैं। पदार्थों में जो

गति आकृति, बोध, वा ज्ञान है उसको ईश्वर कहा है और पदार्थों के स्थूल शरीर को जीव कहा है और पदार्थों के संयुक्त वंशज रूप गुण कर्म स्वभाव तथा कारण कार्य्य के धर्म को प्रकृति कह के पुकारा है। ईश्वर, जीव और प्रकृति का सम्बन्ध एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। समुद्र के बीच में खड़ा हुआ मनुष्य समुद्र

के गुण के सम्बन्ध में तीन शब्दों की कल्पना किया करता है। एक तो वह चारों ओर जहां तक दृष्टि जाती है केवल जल का फैलाव देखता है, जिधर देखता है जल ही का रङ्ग दिखाई पड़ता है, पृथ्वी का चिन्ह कहीं भी नहीं—उस समय यही जान पड़ता है कि सृष्टि में जल ही जल है और समुद्र का अन्त नहीं। इस असीम फैलाव

की ओर दृष्टि करता हुआ वह पहिले शब्द की कल्पना करता है और कहता है कि इस सब फैलाव ही का नाम समुद्र है। इसके साथ ही साथ वह दूसरे शब्द की भी कल्पना करता है और कहता है कि यह समुद्र जलमय है केवल जल ही जल है। जल की ओर निहारते हुए उसकी दृष्टि समुद्र के जल के एक विशेष गुण की ओर जाती है और वह तीसरे शब्द की

कल्पना करता है और कहता है कि यह जल तरंग का लहर रूप है और ये सब तरंगें वास्तव में जलही हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृति में भी उसी प्रकार का संबन्ध है जैसा कि समुद्र, जल और तरंगों का। समुद्र की कल्पना जल से पृथक् है और जल की कल्पना तरंग से अलग है। तीनों शब्द विशेष दशाओं के नाम हैं। परंतु उन दशाओं का सम्बन्ध एक ही

पदार्थ से है। यदि समुद्र को समुद्र रूप कहो तो ठीक है जल रूप कहो तो ठीक है और तरंग रूप कहो तो भी ठीक है। यदि कोई मनुष्य साधारण भाव से समुद्र को नित्य कहै तो समुद्र न होगा और यदि वह जल को और तरंगों को भी नित्य कहै तो भी ठीक होगा। परंतु इन तीनों की भिन्नता का यह अर्थ नहीं कि वह भिन्न पदार्थ हैं और इनका एक दूसरे

से सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार ईश्वर, जीव, और प्रकृति की कल्पनाएं भिन्न की गई हैं, तीनों नित्य हैं, परंतु तीन पदार्थ नहीं हैं-वास्तव में एक हैं। ईश्वर समुद्र के समान है जीव जल रूप और प्रकृति तरंग रूप है। जो जिस दृष्टि से देखता है उसको वही रूप दिखाई पड़ता है। विश्व को चाहे ईश्वर रूप कहो, चाहे जीव रूप कहो, चाहे प्रकृति रूप कहो—

तीनों ठीक हैं। परंतु इन तीनों वाक्यों के अर्थ ठीक लगाने चाहिएं, इनके ये अर्थ नहीं कि तीन भिन्न वा दो भिन्न पदार्थ हैं। वास्तविक पदार्थ एक ही है। उसका नाम जो चाहो रख लो।

प्रकृति भांति २ के विचित्र रूप रंग और कारण कार्य धर्म युक्त आकारवान् पदार्थों के रूप में गोचर है। समस्त प्रकार के पदार्थों का प्रादुर्भाव अथवा बोध संयोग करके

हुआ करता है। यह प्रकृति का रूप है। यह समस्त रूप एक नियम में बद्ध है और यह नियम अटल व नित्य है। परन्तु मनुष्य एक की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में अच्छे बुरे की भावनायें कल्पना करता है तथा अपने को भिन्न और पदार्थों को भिन्न और बीज तथा बीज के बाद फैलाव रूप वृक्ष को अथवा शरीर को भिन्न मानता है। यही द्वैतता की

दृष्टि है। इसी द्वैतता के भ्रम से द्रष्टा को दृश्य दो भासता है। किन्तु बुद्धियोगी अथवा ज्ञानयोगी को वह शुद्ध चैतन्य आकृति रूप में अनुभूत व गोचर होता है। इसी भाव को "हरिरेव जगत् जगदेव हरिः" और "God in nature and nature in God" इत्यादि वाक्यों से दर्शाया है।

समस्त प्रकार के पदार्थसमूह को ही सृष्टि अथवा प्रकृति कहते हैं।

और पदार्थ के संयुक्त ही ईश्वर और जीव की भी सिद्धि होती है। पदार्थ के अतिरिक्त ईश्वर, जीव, अथवा प्रकृति, कुछ नहीं है। जिन्होंने तीन अर्थात् ईश्वर, जीव, और प्रकृति को अथवा दो अर्थात् ईश्वर और जीव को अथवा केवल प्रकृति ही को मान लिया है उनसे प्रश्न है कि पदार्थ के अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं तुम लोगों ने इन तीनों को

अथवा दो को अथवा एक को कहां से ढूंढ़ा व पाया ? जिन्होंने सृष्टि को असत मान रक्खा है उनसे प्रश्न है कि तुम पैदा कैसे हुए ? खाते भोगते क्या हो ? शास्त्रों में जो 'ईश्वर', 'जीव', और 'प्रकृति' के शब्द आये हैं उनका उद्देश्य वही है जो ऊपर स्पष्ट कर आये हैं । सर्वैश्वर्य, सर्व-शक्ति-सम्पन्न को ही ईश्वर माना है और समस्त प्रकार की

आकृतियों के समूह, शक्ति के भंडार जगत् में ये सब गुण पाये जाते हैं इस लिये यह जगत् ही ईश्वर है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति २ के स्थूल शरीर को जीव और उन रूपों के संयुक्त रूप, गुण, कर्म्म, स्वभाव को अथवा कारण कार्य्य के धर्म्म को प्रकृति कहा है। और सच्चिदानन्द कह उठते हैं कि हमको तो ईश्वर कहीं नहीं देख पड़ता,

उनसे प्रश्न है कि ईश्वर कहां नहीं
है ? "सब जगह मौजूद है वह पर
नज़र आता नहीं। ज्ञान विद्या के
बिना कोई उसे पाता नहीं"।
तुम्हारी दृष्टि तो परिमित है।
जब कि तुम दिवाल के आड़ की
वस्तु और गले के ऊपर के अवयव
और आंख का काजल तक नहीं
देख सकते तो फिर उसके सूक्ष्म
अथवा विस्तृत रूप को कब देख

सकते हो? सुषुप्ति अवस्था में जब कि, नाम, रूप, गुण कर्म, स्वभाव इत्यादि २ का लय रहता है वहां पर भी उस शुद्ध चैतन्य गति का संचार बना रहता है। "सः सुप्तेषु जागर्ति"। प्रत्येक स्थान और पदार्थ में उसका संचार प्रतीत होता है। ऐसा कौन पदार्थ है जो उसके अस्तित्व का बोधक नहीं? क्या जागृत अवस्था और क्या स्वप्न

अवस्था, मनुष्य हर दशा में ईश्वर को देखता है परन्तु उसका ज्ञान नहीं होता। जागृत अवस्था में जिसका जैसे रूप से संसर्ग होता है स्वप्न अवस्था में भी उसको वैसा ही बोध उत्पन्न होता है। स्वप्न में व्यक्ति २ के अभ्यासानुसार भावना की दृष्टि और नाम, रूप, गुण, कर्म्म, स्वभाव युक्त रूप और धर्म्म उदय होते रहते हैं और जागने पर

आंख खुलते ही यथा स्थान, और
यथा संसर्ग नाम, रूप, गुण, कर्म,
स्वभाव युक्त फिर ज्यों का त्यों रूप
दीखने लगता है। यदि थोड़ी सी
विचारशक्ति से काम ले तो ईश्वर
एक साधारण मनुष्य को भी दिखाई
पड़ने लगता है। परन्तु उन मनुष्यों
को ईश्वर कभी दृष्ट नहीं पड़ता जो
अन्धकार में फंसे हुये हैं अर्थात्
उनको उस सच्चिदानन्द का किंचित्

बोध नहीं हुआ है। जिनको बोध हुआ है उन्होंने तन, मन और धन लगा के उसको प्राप्त करने का यत्न किया है। सम्राटों ने राज्यसुख को इसकी तुलना में तुच्छ माना है और निर्जन वास करके उस अलौकिक सुख को प्राप्त किया है।

मनुष्य में दृढ़ता का दृढ़ अभ्यास होने पर प्रत्येक व्यक्ति को क्या स्वप्न सृष्टि, क्या जागृत सृष्टि सब

भिन्न २ नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव गुरु से देख पड़ा करती हैं। इसी दृष्टि के कारण तृष्णा का उदय हुआ करता है और छोटे, बड़े तथा ऊंच, नीच पर निगाह पड़ा करती है और बदनियती उत्पन्न होती है। ऐसा विचार करने वाले शास्त्रों का मत भी यही बतलाते हैं। परन्तु वे शास्त्रों के गूढ़ विषयों को न जान कर अपने २ मतों के अनुसार नाना

कल्पनायें किया करते हैं, जिससे कि उनके लिये ईश्वर का निश्चय व ज्ञान दुःसाध्य हो जाता है। वह ज्ञान नित्य है और अनादि है किन्तु ग्रंथों के अक्षरों में नहीं है, विश्व स्वयं ज्ञान रूप है। "परिज्ञानं ब्रह्म", जितने प्रकार के हुनर जितने प्रकार की विद्या और जितने प्रकार के ज्ञान देखने में आते हैं सब विश्व से ही प्राप्त होते हैं।

समस्त शास्त्रों की कल्पना भी प्राकृतिक नियमों के द्वारा हुई है। ज्ञान की उत्पत्ति मत मतान्तरों से नहीं है किन्तु मतों की उत्पत्ति ज्ञान के पश्चात् हुई है। ज्ञान एक है और अनादि है। ज्ञान भेद केवल एक भूल है और इसलिये मत भेद भी एक भूल है। ज्ञान सूत्र अथवा पुस्तक रूप नहीं है विचार रूप है और वह जगत् के पदार्थों से प्राप्त होता

है। मनुष्य और प्राणी सभी संयोग, वियोग, बलवान, निर्बल, प्रिय, अप्रिय, शत्रु, मित्र अंधेरे, उजाले सब का बोध करते हैं। शब्द द्वारा प्राणी रोने चिल्लाने हंसने और गाने के भावों को समझता है और उसी शब्द से अपने आभ्यन्तर का भाव अन्य को जतलाता है और अन्य के मन्तव्य को आप बोध करता है और उसी के संकेतानुसार वह कर्म करने

लगता है किन्तु वह ज्ञान रूप नहीं है शारीरिक धर्म है। केवल पुस्तक पढ़ने से भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। पुस्तक पढ़ने वाला मनुष्य अन्य बहुत सी बातों को जान जाता है परन्तु ईश्वर ज्ञान उन्हीं मनुष्यों को प्राप्त होता है जो कर्मयोग के वास्तविक अभ्यासी होते हैं। इसी सिद्धान्त की पुष्टि में गीता मे श्री कृष्ण भगवान ने अर्जुन को वास्तविक

सुख प्राप्ति के लिये दो साधनायें बतलाई हैं। प्रथम कर्म्मयोग तद-नन्तर ज्ञानयोग। ये दोनों भिन्न २ नहीं है। एक हैं। बिना कर्म्म-योग के ज्ञानयोग नहीं हो सकता। कर्म्म ज्ञान की पहिली सीढ़ी है।

कर्मणैव हि संसिद्धि
मास्थिता जनकादय: ।
लोक संग्रहमेवापि
संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

संयोग से इष्ट साधन अर्थात्
को तृप्ति होती रहती है और
ाग की श्रेणी में पहुंचकर
सत्य का दर्शन करने लगता है।
नेन तु तदज्ञानं
येषां नाशितमात्मनः।
मादित्यवज्ज्ञानं
प्रकाशयति तत्परम् ॥
र्थ—जिन्होंने आत्मज्ञान द्वारा
अज्ञान को नष्ट कर दिया है उन

को परमेश्वर का स्वरूप ऐसा भासने लगता है जैसे कि सूर्य । यही ईश्वर का यथार्थ ज्ञान है और यही कैवल्य पद है जिसकी प्राप्ति से मनुष्य निःस्पृहता तथा निर्भयता के दिव्य मंदिर में सोता है। इसी स्थान को बैकुंठ अथवा स्वर्ग भी कह सकते हैं। इस दिव्य मन्दिर में "खटके" की संभावना नहीं अर्थात् इसमें सोने वाला

निर्भय हो जाता है जिसके कारण वह योगिराज कहलाने का अधिकारी बनता है।

"बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा
विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा
सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ ५-२१ ॥

तात्पर्य यह है कि किसी अत्यन्त एकांत स्थान में समाधि लगाने वाला केवल उसी क्षण में आनन्द को प्राप्त

हो सकता है परंतु ब्रह्मनिष्ठ पुरुष सर्वथा और सर्वदा आनन्द भोग करता है। योग शब्द का लक्ष्य यही है कि चित्त, मन, अथवा सुरति एक ओर भली भांति लग जाय, "योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः"। उठते बैठते, चलते फिरते, खाते पीते, और सोते जागते केवल एक ही विचार में लीन रहे। कर्मों के विषय में जो कौशल अर्थात् ज्ञान की योजना है वही योग है।

"बुद्धियुक्तो जहातीह
उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसुकौशलम्"

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य
न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्ति
रशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

जो पुरुष योग युक्त नहीं है उसको बुद्धि नहीं होती और

भावना अर्थात् आत्मज्ञान में तत्प-
रता भी नहीं होती । आत्म-
ज्ञान बिना शांति असंभव है और
जहां शांति नहीं वहां सुख कहां से
हो सकता है? कर्म योग इसके
लिये अत्यावश्यक है ।

कुछ लोग कहा करते हैं कि
कर्म कुछ नहीं है, कर्मों का फल कुछ
नहीं होता और इसके साथ ही
साथ ईश्वर की स्थिति में भी इस

प्रकार शंका करते हैं कि यदि ईश्वर वास्तव में है तो उसने किसी को दुःखी किसी को सुखी किसी को अन्धा किसी को चक्षुवान, किसी को पंगुल किसी को हाथ पैर वाला, किसी को धनाढ्य, किसी को दीन क्यों पैदा किया? ऐसे लोगों के विरोधी प्रश्न प्रायः स्वयं एक दूसरे के उत्तर होते हैं। आप तो अग्नि में हाथ देंगे और

यदि जल जांय तो ईश्वर की स्थिति में संदेह करेंगे कि यदि वह है तो उसने क्यों हमें जला दिया। ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में कहा गया है:—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति
पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
पापस्य फल नेच्छन्ति
पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

इसी आशय पर हिन्दी में एक महात्मा ने कहा है—

"बोवत बबूर दाख फल चाहत,
करत पाप चाहत कल्याना"।

परन्तु यह संभव नहीं है। यह सृष्टि के नियम के विरुद्ध है। जो लोग बबूल बो कर दाख के फल की आशा करते हैं और दाख के फल न मिलने पर दोष ईश्वर को देते हैं और कहते हैं कि कर्म का फल नहीं होता उनका ऐसा कहना क्या मूर्खता से भरा हुआ नहीं है?

बबूल बोने पर बबूल और
बोने पर दाख का फल मि
सृष्टि का नियम है जोकि
शब्दों में कर्म का नियम
जा सकता है ।

इसी नियम के अनुसार
चलती है । ईश्वर स्वयं इसी
के रूप में अपने को प्रगट करता
इस नियम को कोई धृष्टता से
नहीं सकता। मनुष्य का प्रत्येक

अपना एक रूप ग्रहण करता है और
उस रूप में एक प्रकार की शक्ति
होती है। वही शक्ति मनुष्य के
रूप पर अपना प्रभाव डालती है।
यह प्रभाव भिन्न रूपों में परन्तु सृष्टि
नियम के अनुकूल मनुष्य के सामने
आता है और उसके कर्मों का फल
कहलाता है। प्रत्येक कर्म का फल
अनन्त होता है और प्रत्येक पूर्व
कर्म एक कर्म की सृष्टि का रचने

वाला होता है। परन्तु कर्म से अभिप्राय केवल बाह्य कर्म से नहीं है। कर्म दो प्रकार के होते हैं एक मानसिक और दूसरा दैहिक। इन दोनों में मानसिक अधिक प्रबल और फलदायी है। दैहिक कर्मों की जड़ मानसिक कर्म ही होते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य
य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा

मिथ्याचारः स उच्यते ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा

नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोग

मसक्तः स विशिष्यते ॥

ऊपर से बहुत सा दान दिया बहुत ब्राह्मणों को भोजन कराया परन्तु सब किसी अभिप्राय से अथवा किसी स्वार्थ से। लोगों ने

बड़ी प्रशंसा की। "वाह भइया" 'वाह लाला जी' कहलवाया। परंतु शुद्ध हृदय से उपर्युक्त कोई कर्म न होने के कारण कष्ट और दुःख बरा-बर सताते रहे। यह सब देख कर किसी मूर्ख ने बहस करना आरंभ कर दिया कि सब कर्म वृथा है, ईश्वर ढकोसला मात्र है। अमुक २ लाला जी सदा अच्छा काम करते हैं परंतु उनके कर्मों का क्या फल हुआ?

कर्म के फल को मेटने वाले इसी प्रकार की बहस किया करते हैं। प्रबल कर्म मानसिक ही होता है और प्रत्येक दैहिक कर्म की प्रबलता चित्त की शुद्धि और शक्ति के अनुसार होती है। एक राजा दानी प्रसिद्ध था और वह अपने को दानी समझता भी था। एक दिन घोड़े पर सवार वह अकेला एक गांव में जा रहा था, वहां उसने एक अमीर

के द्वार पर उस घर
को देखा। उसके पा
रोटियां रक्खी थीं औ
करने की तैयारी कर
इतने में एक भूखा कु
आगया और उसने दु
भूखे होने का संकेत कि
ने आधी रोटी कुत्ते कं
कुत्ते ने रोटी खा ली
भी दुम हिलाता और

निहारता ही रहा। उसने आधी रोटी और डाल दी। कुत्ता फिर भी खड़ा ही रहा। दास ने जो एक रोटी बच गई थी उसमें से फिर आधी कुत्ते को दे दी। कुत्ते ने उस-को भी खा लिया परंतु भूखा बहुत था, गया नहीं। तब उस दास ने जो आधी बची थी उसे भी कुत्ते को भेंट कर दी और कहा "अब भाई हमारे पास कुछ नहीं है"।

कुत्ता उसे खा कर दुम हिला कर तथा आंख और जीभ के संकेत से उसको हार्दिक धन्यवाद देकर चला गया। राजा खड़ा हुआ यह सब कौतुक देख रहा था। वह उस दास के पास आया और पूछने लगा "क्यों मित्र तुमने तो अपनी रोटी कुत्ते को दे दी अब तुम क्या खाओगे ?" उसने उत्तर दिया "अब आज हमारे पास खाने को कुछ नहीं है। हमें दो

रोटियां प्रति दिन भोजन करने को मिलती हैं, सो आज यह भूखा कुत्ता आ गया, बेचारा बहुत भूखा था आज का हिस्सा हमने इसीको दे दिया। हमें कल फिर दो रोटियां मिल जांयगी"। राजा यह सुन चकित हो गया और कहा "मित्र! सच-मुच दानी तुम हो! हम व्यर्थ दानी होने का घमंड करते थे"। वास्तव में उस दीन दास के दान की अपेक्षा

राजा के आधे राज्य का दान भी तुच्छ था । उस दास का मान-सिक कर्म राजा के मानसिक कर्म से अलग था, उसके हृदय के बड़प्पन की बराबरी राजा नहीं कर सकता था इसी से अपने से अधिक दानी उसको कहा । उस दास के दान कर्म में कोई स्वार्थ सम्मिलित न था । ऐसे ही कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं ।

गीता में ऐसे कर्म की बड़ी महिमा कही गई है। निष्काम कर्म यथार्थ में वही है जिसमें स्वार्थ का लेश भी न हो जो कुछ किया वह जीव मात्र के स्नेह से और अद्वैत भाव से ईश्वर के अर्पण कर दिया। कर्म-वीर ऐसे ही लोगों का नाम है। ऐसे लोगों को कर्म के फलों के सम्बन्ध में रोने का अवसर नहीं मिलता। बहुत से भेषधारी और

कुछ अन्य शठ "अहं ब्रह्मास्मि" कह के कर्म का अनादर करते हैं और अपने को कर्म से मुक्त और परे बतलाते हुए सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। ऐसे लोग प्रायः आलसी और पातकी होते हैं और उनका रहन सहन ही उनके वाचज्ञान को झूंठा और कपटी बतला देता है। जो झूंठ, लोभ, तृष्णा, मत्सरता, कपट, भय, और स्वार्थ इत्यादि

दोषों से भरा हो और अपने को ब्रह्म और ईश्वर बतला कर अन-जान मनुष्य और स्त्रियों से अपने को पुजवावे—ऐसे महात्माओं से शास्त्रार्थ करना समय नष्ट करना है और इनके सम्बन्ध में सब ही समझदार मनुष्यों का यही विचार होगा कि वे जितना ही शीघ्र देश और पृथ्वी से दूर हों उतना ही शीघ्र उसके पाप का भार घटेगा

परंतु यदि वास्तव में बुद्धि भ्रम से कोई सज्जन विद्वान अपने को ब्रह्म बतलाते हों और कर्म को व्यर्थ कहते हों तो उनसे हमें यह कहना है कि बूंद समुद्र नहीं हो सकता। ईश्वर और जीव की एकता हम स्वयं दिखला आये हैं परन्तु जीव ही ईश्वर है ऐसा नहीं हो सकता। जीव की शक्ति परिमित और बँधी है। ईश्वर अपरिमित है और शक्ति-

भंडार है। यदि मनुष्य अपनी और
ईश्वर की एकता को ज्ञान द्वारा
पहचान ले और इस अर्थ से अपने
को ब्रह्म बतलावे कि वास्तव में
पदार्थ एक ही है और हम उसी के
अंश हैं तो उसका कहना ठीक
होगा। परन्तु बिना कुछ कर्म किये
और बिना ज्ञान प्राप्त किये जो
अपने को ब्रह्म बताते हैं वे अपनी
हानि करते हैं। उन्हें सच्चा सुख

नहीं मिलता और वे दूसरों को भी बहकाते हैं और भ्रम में डालते हैं। इन सज्जनों का ध्यान हम गीता के निम्न लिखित श्लोक की ओर आकर्षित करना चाहते हैं:—

"नियतं कुरु कर्म त्वं
कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते
न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥"

अर्थात् तू नियमबद्ध कर्म कर।

कर्म के न करने से कर्म का करना श्रेष्ठ है। कर्म किये बिना शरीर की रक्षा भी दुर्लभ है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो ज्ञान और भक्ति में भेद करते हैं और कहते हैं कि हम तो किसी विशेष देवता के भक्त हैं हमको उसी से ईश्वर प्राप्त होगा, हमें कर्म और ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे लोग भी शुद्ध मूर्ख हैं। ज्ञान

के बिना भक्ति वैसे ही अ
जैसे सूर्य्य के बिना धूप अं
के बिना शीतलता । जिस
ज्ञान ही नहीं उसमें भक्ति
सोने की रक्षा वही करता
को उसके गुणों का ज्ञान
सोने को नहीं जानता उस
सोने की ओर कभी नहीं हो
भक्ति उसी पदार्थ में हो
जिसके गुणों का कुछ ज्ञ

मूढ़ विश्वास और भेड़िआध
बिना ज्ञानके चाहें हों, परन्तु
बिना ज्ञान के असंभव है।
कर्म से होता है, इसलिये यह
हुआ कि कर्म ही से ईश्वर
प्राप्ति है।

—:०:—

धर्म्मभेद निराकरण

तत्त्ववेत्ताओं ने इस विश्व को कर्मभूमि सिद्ध किया है। कर्म ही से सृष्टि की वृद्धि हुई और होती है। जड़ अथवा चैतन्य जिस पदार्थ को देखिये सब में सृष्टि के नियमानुकूल प्रति क्षण कुछ न कुछ

कार्य्य होता ही रहता है जो कि उनकी स्थिति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कि बुद्धि विकास के लिये बुद्धि का प्रति क्षण यथोचित प्रयोग अनिवार्य है उसी प्रकार शरीर की वृद्धि के लिये मुखादि शरीर के बाह्य अंगों और जिगर, फेफड़ों, रगों और पट्ठों इत्यादि शरीर के अन्तरस्थ अवयवों का कार्य्य अत्यावश्यक है।

वृक्षों और वनस्पतियों में
रीय नियमानुकूल कुछ न
होता ही रहता है और
पृथ्वी, पत्थर आदि के
तक अपने रसायनिक कार
खाली नहीं दिखाई पड़
की तृप्ति और सुख की
लिये भी कर्म करना आव
मोक्ष भी बिना कर्म कि
है। इच्छा तथा सुख की

मार्ग मोक्षप्राप्ति के मार्ग से भिन्न है। इच्छा और सुख की प्राप्ति में कामना और कर्मफल का संग विद्यमान रहता है इसके विरुद्ध मोक्ष प्राप्ति के लिये निःसंग और निष्काम कर्म की आवश्यकता है। अतएव वेद ने कर्म में तत्पर होने के दो मार्ग बतलाये हैं जो कि प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रवृत्ति मार्ग

में धर्म, अर्थ और कामप्राप्ति की उपासना का और निवृत्ति मार्ग में मुक्तिप्राप्ति की उपासना का विधान है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्गों का कार्य करने ही के निमित्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ तथा सन्यस्थ चार आश्रम और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र चार वर्णों की कल्पना की गई है। धर्म प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य पालन, विद्याध्ययन तथा

ब्राह्मणों के कर्तव्य यज्ञदान इत्यादि का उपदेश दिया गया है । अर्थ प्राप्ति के लिये समस्त देशों और जातियों में लोग अपनी संतानों को वे बातें सिखाते हैं जिनसे उनकी अर्थ सिद्धि हो और मतलब निकले। वैश्यों का कार्य्य धन उपार्जन करना, क्षत्रियों का कर्तव्य देश तथा प्रजा की रक्षा करके अपने को राजा होने के योग्य बनाना

और गृहस्थाश्रम द्वारा लौकिक कार्य्यों को सफलता पूर्वक सम्पादन करना इत्यादि सब का उद्देश्य अर्थप्राप्ति ही है। अर्थप्राप्ति के लिये प्राणी उन उन पदार्थों की उपासना करता है जिनसे कि उसको अपने किसी अर्थ की प्राप्ति की संभावना होती है। इस कारण यदि यह कहा जाय कि अर्थ प्राप्ति के लिये मूर्तिपूजन का विधान है तो एक

प्रकार से अनुचित न होगा ।

अब काम अर्थात् सुख की प्राप्ति का विषय बाक़ी रहा । इसके लिये गृहस्थ धर्म के बहुत से कार्यों का विधान किया गया है । कुटुम्बपालन, नाते रिश्तेदारों से स्नेह, स्त्री पुत्र आदि का सम्बन्ध, माता पिता, गुरू राजा और अन्य ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञा का पालन करना, यथा शक्ति दूसरों के कष्ट में सहा-

पता देना इत्यादि ४ संसार के कार्य काम और सुख की प्राप्ति ही के लिये किये जाते हैं। ये सम्पूर्ण कार्य प्रवृत्ति मार्ग के रहे जिनमें कि फल प्राप्ति का संग अर्थात् सुख दुःख का संसर्ग विद्यमान है। निवृत्ति मार्ग जैसा कि ऊपर वर्णन कर चुके हैं मोक्ष प्राप्ति के लिये है। निःसंग इसमें मुख्य पदार्थ है। इसके द्वारा राग द्वेष, और सुख दुख के यत्न की

चिन्ता छूट जाती है और निर्भयता का लाभ होता है। वाणप्रस्थ तथा सन्यस्थ आश्रम की स्थिति इसी निमित्त है। अब यदि विचार पूर्वक देखिये तो समस्त वर्ण और आश्रम प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्गों के भीतर आगये और यदि थोड़ा सा और विचार करिये तो दुनिया भर के समस्त धर्म और कर्म इन दो मार्गों, चार वर्णों और

चार आश्रमों में समावेशित हो गये। भिन्न देशों में अथवा भिन्न समयों पर भिन्न भाषा अथवा भिन्न शैली का आश्रय लेते हुये लोगों ने जो धर्म की भिन्नता का बोध किया है वो उन की भूल है। जब कि समस्त मत मतान्तर, गद्दी और पंथ, समाज और सम्प्रदाय कर्म को मानते हैं और करते हैं और कोई भी कर्म उपर्युक्त दो मार्गों, चार वर्ण और

चार आश्रमों से बाहर नहीं रह जाता, तो फिर भिन्न धर्म कहां रहे? और किस प्रकार कोई विद्वान भिन्न धर्मों के अस्तित्व में विश्वास कर सक्ता है? यह संभव है कि यदि एक मत अथवा सम्प्रदाय एक मार्ग को ग्रहण किये हुये है तो दूसरा दूसरे को; और यदि एक समाज एक वर्ण अथवा आश्रम का धर्म पालन कर रही है तो दूसरी दूसरे का।

परन्तु यह कार्य अथवा मार्ग की भिन्नता धर्म की भिन्नता का प्रमाण नहीं है । प्रत्येक मार्ग एक ही स्थान को ले जाने वाला है और प्रत्येक वर्ण अथवा आश्रम कार्य विभाग के सिद्धान्तानुकूल एक ही महान कार्य को कर रहा है । वे भिन्न नहीं हैं प्रत्युत एक ही धर्म के अन्तर्गत हैं । इनमें और मुख्य धर्म के मध्य भेद भाव नहीं है

त्युत अङ्ग और अङ्गी का सम्बन्ध
है। जो पंथ अथवा सम्प्रदाय अपने
ही मार्ग द्वारा स्वर्ग अथवा विहि-
रत की प्राप्ति संभव बतलाते हैं
और अन्य द्वारा नहीं वे भूल करते
हैं अथवा पक्षपातान्ध हो रहे हैं।
प्रत्येक कर्मयोगी और ज्ञानयोगी
चाहे जिस धर्म का अवलम्बी वह
क्यों न हो मुक्ति का अधिकारी
है। जाति और पेशा की छुटाई

बड़ाई भी इसमें बाधक नहीं होती। अपने कर्तव्य धर्म को यत्नतः और विचारपूर्वक करता हुआ एक शूद्र भी उतनाही बड़ा है जितना कि एक ब्राह्मण। और सुख शान्ति और मुक्ति की प्राप्ति के लिये भी उसका हक़ किसी से कम नहीं है। यह व्यर्थ है कि कोई प्राणी अपनी जाति अथवा धर्म को तुच्छ समझ कर मुक्ति की इच्छा से दूसरे का

अनुयायी हो। प्रत्येक मार्ग, प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का मुख्य धर्म कर्मयोग है। कर्मयोग से इच्छा की तृप्ति और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इच्छा की तृप्ति और ज्ञान की प्राप्ति से हृदय में सन्तोष और निर्भयता का संचार होता है। इससे हार्दिक और मानसिक दुःसाध्य विकार दूर होते हैं। और हृदय और मन की पवित्रता से मोक्ष प्राप्त होती है।

प्रायः लोग रागद्वेष, सुख दुख इत्यादि के चिंतन को जो कि शरीर के धर्म हैं कर्म करना मानते हैं परन्तु ये अकर्म हैं। इनसे इच्छा की तृप्ति, मानसिक संतोष अथवा निर्भयता कदापि प्राप्त नहीं होते। प्रत्युत मोक्ष के बाधक काम, क्रोध, लोभ, मोह बढ़ते जाते हैं जिनके कारण प्राणी अनेक पाप करने लग जाता है। झूठ

बोलता है, चोरी करता है, हिंसा करता है, विश्वासघात करता है और इसी प्रकार के अनेक निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। इन सब का कारण कर्म के उलटे मार्ग पर चलना है । यह विश्व आनन्दमय स्थान है इसमें सोने चांदी की नदियां नित्य प्रति बहती रहती हैं। उद्योगी और कर्मयोगी यहां पर सब कुछ प्राप्त कर सकता

है किन्तु आलसी और निरुद्योगी आदमियों के हाथ कुछ नहीं लगता, और उलटा उद्योग तथा अकर्म करने वाला मनुष्य अपनी गांठ का भी खो बैठता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि वेदविहित कर्म का उपदेश देता हुआ प्रत्येक मार्ग, वर्ण तथा आश्रम मोक्ष का द्वार है।

जो लोग वर्णाश्रम धर्म को अलग करके जाति इत्यादि का बन्धन

तोड़ने और निच्छृङ्खल आचरण करने को कर्म करना मानते हैं वे भी भूल करते हैं। छोटा बड़ा कोई कार्य क्यों न हो उसमें सफलता प्राप्त करने के लिये किसी नियम से कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। चार वर्ण और चार आश्रमों की प्रथा इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये ऋषियों द्वारा चलाई गई है। और यह भारतवर्ष

और सम्प्रदाय उन्हीं के अन्तर्गत हैं। जिस वर्ण, जिस आश्रम, जिस समाज अथवा जिस सम्प्रदाय में हो, प्राणी का मुख्य कार्य अपने कर्तव्य धर्म का पालन करना है। निःसंग से संयुक्त होकर यह कर्तव्यपालन कर्म-योग की कोटि में आजाता है जिससे ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञान से भक्ति, भक्ति से उपासना और उपासना से मुक्ति प्राप्त होती है॥

शिक्षा
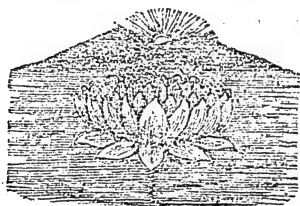
पुरुष, स्त्री, मूर्ख, पण्डित, कुलीन, अकुलीन, सभ्य, असभ्य सभी एक दूसरे को एक प्रकार की शिक्षा दिया करते हैं। कोई मनुष्य अपने को छोटा अथवा

मूर्ख नहीं समझता । परन्तु इस रूप की शिक्षा ईश्वर ज्ञान प्राप्त करने का द्वार नहीं है। ईश्वर ज्ञान के लिये जैसा पहिले दिखला चुके हैं कर्मयोग और ज्ञानयोग की आवश्यकता है । बिना कर्म अथवा अनुभव किये प्राकृतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त नहीं होता । और प्राकृतिक नियमों का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान, तत्वज्ञान, अथवा आत्मज्ञान कहा

जाता है। बिना इस ज्ञान के सत्य का दर्शन और इच्छा की तृप्ति नहीं होती। दत्तात्रेय जी ने प्रकृति ही में से २४ गुरू बना कर ज्ञान प्राप्त किया था। प्राकृतिक नियमों के सम्यक अवलोकन ही से गणित, भूगर्भ, खगोल, भूगोल इत्यादि समस्त विद्यायें विज्ञान और कला कौशल का प्रादुर्भाव तथा रेल, तार, बिजली, व्योमयान (air ship) व रेडीयम आदि

पदार्थों का आविष्कार हुआ है। प्रकृति का एक नियम संसर्ग है यह नियम अटलता के साथ सर्वत्र व्याप रहा है। संसर्ग ही से समस्त पदार्थों की उत्पत्ति, पालन और नाश होता है। संसर्ग ही के नियम के कारण प्रत्येक जाति के पृथक् २ पदार्थों में एक दूसरे की अपेक्षा रूप, गुण, और स्वभाव की भिन्नता पाई जाती है। संसर्ग ही से प्राणी मात्र के स्वभाव

में प्रतिक्षण प्रतिकूलता उत्पन्न हुआ करती है। काम, क्रोध, भय, रोग, लोभ, मोह, इत्यादि का उत्पादक संसर्ग ही है। चित्त में प्रत्येक प्रकार का दौड़ान भी संसर्ग ही के कारण उमड़ता है। संसर्ग ही से गर्भ में अंधे, लूले, काने, बहिरे इत्यादि बिकारी अंगों का निर्माण होता है। और प्रकृति में जो कुछ भी अच्छा बुरा परिवर्तन जैसे कि फसलों का बिगड़ना

और बनना आदि दिखलाई पड़ता है सो भी सब संसर्ग ही के कारण है। जातिभेद, वर्णभेद तथा आश्रम-भेद भी संसर्ग ही से होता है। पृथक् २ देशों में बसने पृथक् २ रूप के कार्य अथवा व्यवसाय करने से पृथक् २ जाति, वर्ण आदि बन गये और वे पृथक् २ शब्दों से पुकारे गये। "चातु-र्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"। अर्थात् गुण और कर्म के विचार से

चार वर्णों की रचना हुई है। इसी प्रकार संसर्ग ही से पंचभौतिक पदार्थ अनेक रूप, गुण, कर्म और स्वभाव के दिखाई पड़ने लगे। इन्हीं कर्मों के अनुसार समस्त जातियों ने अपने २ यहां कार्य्य की मर्यादा बांध रक्खी है और उस मर्यादा को तोड़ने के लिये दंड का भी विधान कर रक्खा है। जो जातियां अपनी मर्यादा पर चलती हैं सभ्य और श्रेष्ठ कहलाती

हैं और जो उसके विरुद्ध आचरण करती हैं वे असभ्य और निकृष्ट कहलाती हैं। छोटे बड़े होने का भी यही कारण है। परन्तु यह सब भिन्नता मानुजी व्यवहार की दृष्टि तक ही सीमाबद्ध है। तत्ववेत्ताओं की दृष्टि में सब एक है 'वाचारम्भणं नाम रूप धेयं विकारं मृत्तिकेत्येवं सत्यम्'। अर्थात् शब्द रूप और नाम की भिन्नता एक विकार है, असल में

एक मृत्तिकातत्व ही सत्य है। परन्तु उसके साथ यह भिन्नता का भास भी निरर्थक नहीं है। सृष्टि में जुदे २ पदार्थों और उनमें जुदे २ रूप, गुण, कर्म, और स्वभाव की कल्पना तथा रचना मनुष्य को शिक्षा देने के लिये की गई है। प्रकृति में अच्छे संसर्ग से अच्छा फल और बुरे संसर्ग से बुरा फल मिलने का नियम भी अटल है। अच्छे संसर्ग

का नाम सुसंग और बुरे संसर्ग का नाम कुसंग है। कुसंग से बचने और सुसंग को प्राप्त करने की शिक्षा प्रकृति के भिन्न २ पदार्थों ही से मिल रही है। पृथक२ जाति के पदार्थों को देख कर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट का ज्ञान प्राप्त होता है जिसके अनुसार कि मनुष्य कर्म्म में तत्पर होता है। जब इतनी शिक्षा के द्वारा कर्मयोग में

प्रवृत्त होकर उसके अभ्यास द्वारा मनुष्य तत्वज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये प्रकृति में पदार्थों की यह भिन्नता किसी अर्थ की नहीं रह जाती। ऐसा मनुष्य सब में एक भाव का अनुभव करने लगता है। और यथार्थ में विचार करिये तो सब एक ही है। कार्य्य और कारण का सम्बन्ध सर्वत्र एक ही है। मनुष्य और प्राणियों में शारीरिक

धर्म समान ही है; इच्छा, द्वेष, दुख, सुख, यत्न, ज्ञान, खाना, पीना और अन्य धर्म्म भी समान ही हैं; राजा और रंक, पतित और साधु, मूर्ख और पंडित सब में प्रकृति के शारीरिक और मानसिक नियम एकही प्रकार से कार्यबद्ध देखने में आते हैं—सब समान रूप से उत्पन्न होते हैं जवान और बुड्ढे होते हैं तथा मोह, भय, तृष्णा, और खटका भी सब

में समान पाया जाता है। अभि-मानी, शिक्षक भी सब समान हैं। सभी के दो आंख और दो कान हैं। अवस्था प्रति चेष्टा भी समान है। मनुष्य अवस्था तथा जाति या पेशे के कारण उच्च लघु, छोटा बड़ा तथा अच्छा बुरा नहीं माना जा सकता। समस्त पेशे और जाति वालों को समान दुःख और सुख प्राप्त होता रहता है।

और स्वधर्म और निज कर्तव्य परायण रहते हुये मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में ईश्वर ज्ञान प्राप्त करने का भी समान अवसर तथा अधिकार दिया गया है। इस विचार से छोटा और बड़ा किसको कहें ? यदि लोकोक्ति पर विचार करें तो देखते हैं कि जिसको एक मनुष्य पंडित, ज्ञानी, बली, धनी, मित्र और सभ्य

समझता है दूसरा उसको इसके विरुद्ध मूर्ख, निर्बल, निर्धन, शत्रु और असभ्य समझता है। इससे भी ऊंच नीच और भले बुरे का निश्चय कैसे हो? असल में यह सब लौकिक व्यवहार है। और इस प्रपंच को पूर्णतया न समझते हुये आज कल अनेक धर्मोपदेशकों ने अपनी २ दूकान का जुदा २ नाम रख लिया है और उनको जुदी २ सम्प्रदाय,

गद्दी, पंथ, समाज तथा ईसाई, मूसाई, मुसलमान आदिक मतों के नाम से प्रख्यात कर रक्खा है। इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि इन सब का जुदा २ ईश्वर तथा जुदा २ स्वर्ग अथवा बिहिश्त है। बिहिश्त और ईश्वर प्राप्त करने और कराने का ठेका किसी ख़ास मज़हब तथा समाज ने नहीं ले रक्खा है। किसी मतवाले के यहां नाम दर्ज कराने

मात्र से अथवा साधु और ब्राह्मणों को अधेला, पैसा तथा मुट्ठी भर अन्न देने, हाथ जोड़ने, पैर धोने और केवल पूजा पाठ करने इत्यादि से भी मुक्ति नहीं मिल जाती। स्वर्ग अथवा सुख, अथवा ईश्वर ज्ञान उसी मनुष्य को लभ्य है जो कि कर्मयोग व ज्ञानयोग का यथेष्ट उपासी होता है, 'नान्यो पंथा विद्यते अनाय'। इस लियें

यदि कोई बड़ा है तो वह है जो कि प्रत्येक अवस्था में कर्म योग में प्रवृत्त हो ज्ञान को प्राप्त करता है। और यदि कोई नीच और पतित है तो वह है जो अपनी जाति मर्यादा तथा वर्णाश्रम धर्म को छोड़कर स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से अन्य मतमतान्तरों में भटकता फिरता है। जो लोग ध्रुव और अध्रुव की खोज में भी मतमतान्तरों के

झगड़े में पड़े फिरते हैं वे भी एक बड़ी भूल करते हैं। वह सब जानते हैं कि मरना ध्रुव है और धृति, क्षमा, अहिंसा, सत्य और ईमानदारी का अच्छा फल मिलना भी ध्रुव है। तो फिर इस ध्रुव अर्थात् निश्चित विचार और कार्य को छोड़ कर अध्रुव अर्थात् अनिश्चित पदार्थ की तलाश में इधर उधर मारा मारा फिरना क्या व्यर्थ और

हानिकारक नहीं है ? नीति का यह वचन स्मरण रखने योग्य है कि:—

ये ध्रुवाणि परित्यज्या
ध्रुवाणि परिषेवते ।
ध्रुवाणि तस्यनश्यन्ति
अध्रुवाणि तस्यमेवच ॥

अर्थात् जो निश्चित को छोड़ अनिश्चित को खोजता फिरता है उसका निश्चित और अनिश्चित सबही हाथ से जाता रहता है। ऐसे

लोगों के सम्बन्ध में यह कहावत चरितार्थ होती है कि–"न खुदाही मिला न विसाले सनम् न इधर के रहे न उधर के रहे"। जो लोग निश्चित ही को न समझकर इस- के विश्वासी नहीं हो सकते वे मत- मतान्तरों में घूम कर अनिश्चित का कब पता लगा सकते हैं ?

—:o:—
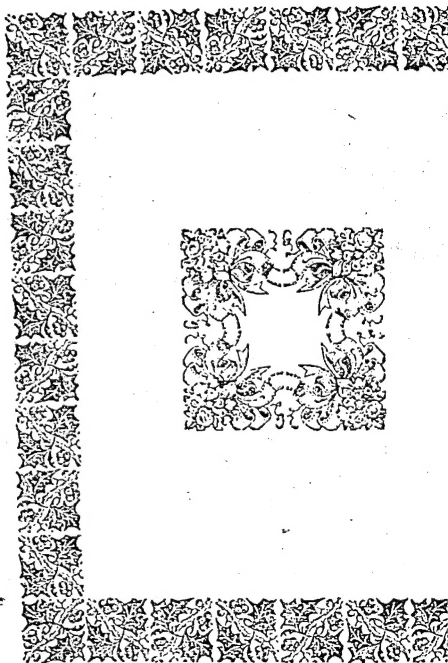
उपसंहार ।

उपर्युक्त तीनों लेखों का संक्षिप्तार्थ यह है कि मुमुक्षु को मत भेद, धर्म्म भेद, वर्ण-भेद, जाति भेद तथा अन्य प्रकार के भेदों के झगड़ों में न पड़ना चाहिये। ये सब लौकिक व्यवहार हैं। ईश्वर

ज्ञान प्राप्त करने के लिये सब पदार्थ समान उपयोगी हैं। प्रकृति के भिन्न २ पदार्थों और सृष्टि के नियमों का सम्यक् अवलोकन करके हमको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हमको क्या करना है और क्या न करना है। और इस शिक्षा द्वारा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निश्चय करके अन्य संकल्पों और विकल्पों को छोड़कर कर्म-